Nature of soul according to Vedic thought

(वैदिक चिन्तन के अनुसार जीवात्मा का स्वरूप)

Dr. Suman Rani

Assistant Professor, Department of Sanskrit,
Haryana Central University,
Mahendragarh.

DOI: 10.52984/ijomrc3301

वैदिक चिन्तन परम्परा के अनुसार ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति ये तीन अनादि तत्त्व हैं। ये तीनों तत्त्व न कभी उत्पन्न होते हैं और समाप्त, सदा से विद्यमान् हैं और सदा विद्यमान् रहेंगे। इनके गुण, कर्म और स्वभाव भी नित्य हैं। भारतीय दार्शनिक परम्परा में इसे 'त्रैतवाद' कहा जाता है। 'प्रकृति' में सत्तात्मक केवल एक गुण है। प्रकृति चेतन न होकर मात्र जड़ है। जीवात्मा के दो गुण हैं- सत् और चित् अर्थात् जीवात्मा का अस्तित्व भी है और वह चेतन भी है। जीवात्मा अल्पज्ञानयुक्त, एक देशी, अल्पशक्तिमान् और कर्म करने में स्वतन्त्र है। कर्म करने में स्वतन्त्र होते हुए भी वह कर्मफल भोगने में परतन्त्र है। जीवात्मा में आनन्द नामक गुण का अभाव है। यह उसकी न्यूनता है। अतः आनन्द को प्राप्त करने के लिए वह सदा तत्पर रहता है। हमने अपने इस शोधपत्र में वैदिक चिंतन के अनुसार जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप को बताने का प्रयास किया है कि किस प्रकार भारतीय दार्शनिक परंपरा वैदिक चिंतन परंपरा के अनुसार जीवात्मा प्रकृति और ईश्वर तीनों अनादि तत्व है जो सदा विद्यमान रहते हैं जीवात्मा कर्म फल भोगने में और कर्म करने में स्वतंत्र है परंतु आनंद के अभाव के कारण वह हमेशा आनंद को प्राप्त करने के लिए तत्पर रहती है क्योंकि यह दिल में बास करने वाली है और शरीर के द्वारा ही उत्पन्न बताई गई है हमने अपने शोधपत्र में भारतीय दार्शनिक एवं वैदिक परंपरा के अनुसार इसके विभिन्न रूपों को बस लाने का प्रयास किया है।

मुख्य शब्द- जीवात्मा प्रकृति चेतन ईश्वर आत्मा

वैदिक चिन्तन परम्परा के अनुसार ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति ये तीन अनादि तत्त्व हैं। ये तीनों तत्त्व न कभी उत्पन्न होते हैं और समाप्त, सदा से विद्यमान् हैं और सदा विद्यमान्

रहेंगे। इनके गुण, कर्म और स्वभाव भी नित्य हैं। भारतीय दार्शनिक परम्परा में इसे 'त्रैतवाद' कहा जाता है। 'प्रकृति' में सत्तात्मक केवल एक गुण है। प्रकृति चेतन न होकर मात्र जड़ है। जीवात्मा के दो गुण हैं- सत् और चित् अर्थात् जीवात्मा का अस्तित्व भी है और वह चेतन भी है। जीवात्मा अल्पज्ञानयुक्त, एक देशी, अल्पशक्तिमान् और कर्म करने में स्वतन्त्र है। कर्म करने में स्वतन्त्र होते हुए भी वह कर्मफल भोगने में परतन्त्र है। जीवात्मा में आनन्द नामक गुण का अभाव है। यह उसकी न्यूनता है। अतः आनन्द को प्राप्त करने के लिए वह सदा तत्पर रहता है। ईश्वर के तीन गुण हैं- सत्, चित् और आनन्द अर्थात् ईश्वर की सत्ता भी है, वह चेतन भी है और आनन्द स्वरूप भी है। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान्, निराकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामि आदि गुणों से युक्त सच्चिदानन्द स्वरूप है। जीवात्मा अपनी अल्पज्ञता को दूर करने की शक्ति और आनन्द को प्राप्त करने के लिए ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना और योगाभ्यास करता है, जिससे ईश्वर का साक्षात्कार करके वह आनन्द को प्राप्त कर लेता है। उपर्युक्त त्रैतवाद का वर्णन वैदिक साहित्य में आलङ्कारिक रूप में इस प्रकार किया गया है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।[1]

अर्थात् एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। वे दोनों मित्र हैं और एक साथ निवास करते हैं। इनमें से एक पक्षी वृक्ष के मधुर फलों को खाता है। दूसरा पक्षी बिना फलों का उपभोग किए साक्षी रूप में बैठा हुआ सर्वत्र प्रकाशमान् हो रहा है। इसका निहितार्थ है कि प्रकृति रूपी वृक्ष है जिस पर ईश्वर और जीवात्मा ये दो चेतन तत्त्व बैठे हैं। इनमें से जीवात्मा कर्म करता हुआ सांसारिक पदार्थों का उपभोग करता है और कर्मानुसार फलों को भोगता है। दूसरा पक्षी ईश्वर के रूप में वर्णित है- वह अकर्त्ता और अभोक्ता है। वह केवल साक्षी मात्र है और जीवात्मा के कर्मों को देखता रहता है। इस प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में ईश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन त्रैतवाद का परिपोषक है। 'श्वेताश्वरोपनिषद्' में कहा गया है कि **"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं**

[1] ऋग्वेद 1.164.20, मुण्डकोपनिषद् 3.1.1

त्रिवधं ब्रह्ममेतत्"[2] अर्थात् जीव भोक्ता है, प्रकृति भोग्य है और ईश्वर प्रेरक है। यह त्रिविध ब्रह्म है।

यजुर्वेद एवं ईशोपनिषद् का निम्नलिखित मन्त्र भी प्रस्तुत विषय में द्रष्टव्य है-

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।[3]

अर्थात् इस संसार में जो कुछ भी है वह सब ईश्वर से व्याप्त है। इसके कण कण में वही समाया हुआ है। अतः इस संसार के पदार्थों का उपभोग ममता और आसक्ति को त्यागकर करो। किसी अन्य के धन का लालच मत करो। उपर्युक्त विवेचन का भाव यह है कि प्रकृति जड़ है। अचेतन है। उसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। ईश्वर सर्वसामर्थ्यवान् है, सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। उसे भी अपने लिए कुछ नहीं चाहिए। जीवात्मा सत् और चेतन (चित्) होते हुए भी आनन्द से रहित है। अल्पज्ञ, अल्प-सामर्थ्यवान् हैं। वह सदा आनन्द और पूर्णता की खोज में लगा रहता है। पूर्ण आनन्द प्राप्त करना ही आत्मा का लक्ष्य है। प्रस्तुत शोध लेख के माध्यम से इसी जीवात्मतत्त्व का चिन्तन किया गया है।

'आत्मा' शब्द की व्युत्पत्ति

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति भ्वादि गणस्थ 'अत्' धातु से 'मनिण्' प्रत्यय करने से हुई है।[4]

अमरकोष में भी 'आत्मा' शब्द की व्युत्पत्ति अत् धातु से ही मानी है। जिसका अर्थ है- देह में वास करने वाला। आत्मा शरीर में निवास करने वाला तथा शरीर द्वारा उत्पन्न होने वाला बताया गया है, क्योंकि पुत्रादि की उत्पत्ति देह द्वारा होती है। अतः पुत्र को आत्मा नाम से भी पुकारा जाता है।[5]

न्यायदर्शन में जीवात्मा का लक्षण निम्नलिखित रूप से दिया गया है- **"इच्छाद्वेषप्रयत्न-सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति"**[6] अर्थात् जो इच्छा करे, द्वेष करे, सुख-दुःक का अनुभव करे और ज्ञान प्राप्त करे, वह जीवात्मा होता है। वैशेषिक

---

2 श्वेताश्वतरोपनिषद् 1.12

3 यजुर्वेद 40.1, ईशोपनिषद् 1.1

4 सातिभ्यां मनिन् मनिणौ

5 आत्मेति। आत्मनो देहजातः। अमरकोष 2.6.26

6 न्यायदर्शन 1.1.10

दर्शन में जीवात्मा के लक्षण अधिक विस्तार से दिए गए हैं- **"प्राणापाननिमेषोन्मे-षजीवनमनोगतिरिन्द्रयान्तर्विकाराः सुखदुःख-इच्छाप्रयत्नश्चात्मनोलिङ्गानि"**[7] अर्थात् जो प्राण और अपान से युक्त हो, निमेष-उन्मेष=आँखें बन्द करें और खोलें, जीवन धारण करें, मन=सङ्कल्प-विकल्पादि करें, गति करें, हाथ-पैर, नैत्र, श्रौत्र आदि इन्द्रियों से युक्त हो, भूख-प्यास, हर्ष-शोक आदि अन्तर्विकारों से युक्त हो, सुख-दुःख का अनुभव करे, इच्छा करें, द्वेष करें और प्रयत्न=पुरुषार्थ करे; ये बारह जीवात्मा के गुण हैं, जिनसे उसकी प्रतीति होती है। आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता। जब तक शरीर में रहता है तभी तक ये गुण शरीर में रहते हैं और जब आत्मा शरीर छोड़कर चला जाता है तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हो, और न होने से न हो वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीपक और सूर्य आदि के होने से प्रकाश, धूप आदि होते हैं तथा जब दीपक और सूर्य आदि नहीं होते तो प्रकाश एवं धूप आदि भी नहीं होते। इस प्रकार उपर्युक्त गुणों के आधार पर आत्मा का ज्ञान करना चाहिए।

जीव की पारिभाषा महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार दी है- **"जो इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुण युक्त अल्पज्ञ नित्य हैं उसी को जीव मानता हूँ।"**[8]

जीव अल्पज्ञ, एकदेशी और सूक्ष्म है। योनि भेद से जीव का परिमाण (आकार) भेद नहीं होता। चींटी और हाथी में जीव का परिमाण (आकार) एक सा ही होता है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र अर्थात् ईश्वर के अधीन है। वह अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख रूप फल को प्राप्त करता है तथा शरीर त्यागने के बाद उसको ईश्वर की व्यवस्था से विविध योनियों में जाना पड़ता है।

कठोपनिषद् के अनुसार जीवात्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुरातन तथा अविनाशी है। यह आत्मा न तो स्वयं जन्म लेता है और न ही इससे कोई दूसरा उत्पन्न होता है। इसे न कोई मार सकता है और न ही यह किसी को मार सकता है। यह सदा एक रस में रहने वाला तथा पुरातन है। न तो आत्मा का क्षय होता है और न ही वृद्धि को प्राप्त करता है। शरीर के नष्ट

7 वैशेषिकदर्शन 3.2.4

8 स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश -4, ले. महर्षि दयानन्द सरस्वती।

होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। अतः आत्मा हमेशा रहने वाला नित्य तथा कभी नष्ट न होने वाला अविनाशी स्वरूप है।[9]

जो यह मानता है कि मैं किसी को मार रहा हूँ और मरने वाला समझता है कि मैं मर रहा हूँ। वे दोनों ही अज्ञानी हैं, क्योंकि न तो कोई आत्मा को मार सकता है और न ही कभी आत्मा मरता है।[10] मुण्डकोपनिषद् में उल्लेख है कि आत्मा स्थूल नहीं, अणु है, सूक्ष्म है। अतः आत्मा का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं, चित्त से ही हो सकता है, परन्तु चित्त में प्राण अपने पाँच रूपों में (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान) प्रविष्ट होकर विराजमान है। वह प्राण चित्त को आत्मा की ओर जाने में बाधक बन गया है। जिस शरीर में इन पाँचों प्राणों का भोग चल रहा है चित्त भी उसी ओर आकर्षित रहता है। आत्मा की ओर जाने के स्थान पर चित्त, प्राणों की ओर शरीर के भोगों की ओर आकर्षित हो रहा है। चित्त को प्राणों से हटाकर आत्मा की ओर लगाने की आवश्यकता है। आत्मा में लगाने से चित्त शुद्ध हो जाता है, निर्मल हो जाता है। तब उसमें आत्मा की आभा प्रस्फुटित हो जाती है।[11]

आत्मा का स्वरूप

जीवात्मा के स्वरूप का विवेचन 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में निम्नलिखित रूप में किया गया है-

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चौपभोक्ता।

स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति सर्वकर्मभिः।।[12]

अर्थात् (गुणान्वयः) सत्व-रज-तम इन गुणों से आसक्त हुआ (यः) जो जीवात्मा (फलकर्मकर्ता) फल=सुखदुःखरूप भोग देने वाले कर्मों का करने वाला है, (कृतस्य) किये हुए (तस्य) उस कर्म का (एव) ही (सः) वह जीवात्मा

---

9 न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे।। - कठोपनिषद् 2.18

10 हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।। - कठोपनिषद् 2.19

11 एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेशः।
प्राणैश्चितं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।। - मुण्डकोपनिषद् 3.1.9

12 श्वेताश्वतरोपनिषद् 5.7

(च) और (उपभोक्ता) भोग करने वाला है; (सः) वह जीवात्मा (विश्वरूपः) कर्मनुरूप अनेक रूपों वाला अर्थात् योनियों वाला होता है। (त्रिगुणः) तीन गुणों वाला (त्रिवर्त्मा) उत्तम-मध्यम-अधम इन तीन प्रकार के वर्ताव वाला (प्राणाधिपः) प्राणों= शरीर का स्वामी पुरुष (सञ्चरति) भिन्न-भिन्न योनियों में सञ्चरण करता रहता है। (स्वकर्मभिः) अपने कर्मों के कारण से।

इसका भाव यह है कि यद्यपि सत्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति के हैं, परन्तु जीवात्मा उन गुणों का सम्बन्ध अपने साथ जोड़ लेता है; जीवात्मा फल के लिए कर्म करता है और जैसे कर्म करता है उसी का फल भोगता है; जीवात्मा सब तरह के शरीर धारण कर लेता है; यह जीवात्मा तीन गुणों और उत्तम, मध्यम, अधम इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त करने वाला है; यह अपने कृत कर्मों के अनुसार ही विचरण करता रहता है।

जीवात्मा के स्वरूप को श्वेश्वतरोपनिषद् में प्रतिपादित करते हुए कहा गया कि **"यह अङ्गुष्ठमात्र है परन्तु सङ्कल्प अर्था मन और अहङ्कार अर्थात् बुद्धि से संयुक्त होने के कारण इसका रूप सूर्य के समान विशाल है।"** अङ्गुष्ठमात्र कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि जीवात्मा अङ्गूठे के बराबर है। अतः आगे पुनः उल्लेख है कि – **"वह 'आराग्रमात्र' है- अर्थात् सूई की नोक के बराबर है- अत्यन्त सूक्ष्म है, पुनरपि जीवात्मा को उसके अपने गुणों से और बुद्धि के गुणों से देखा जाता है।"**[13]

यहां **'आराग्रमात्र'** अर्थात् सूई की नोक के बराबर कहने का यह भाव बिल्कुल भी नहीं है कि जीवात्मा का स्वरूप इतना ही है अपितु इसका अभिप्राय मात्र इतना सा है कि जीवात्मा अति सूक्ष्म तत्त्व है। इसीलिए प्रस्तुत प्रसङ्ग में पुनः उल्लेख किया गया है कि **"अगर बाल के अगले हिस्से के सौ भाग किये जायें फिर उन सौ में से एक हिस्से के सौ भाग किये जायें तो जितना सूक्ष्म यह हजारवाँ हिस्सा होगा, तो उतना भाग जीवात्मा का समझना चाहिए।"** यह वर्णन जीवात्मा के सूक्ष्मतम रूप को बताने के लिए किया गया है। कहने का भाव यह है कि जीवात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है। जीवात्मा सूक्ष्मतम होते हुए भी

---

13 अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो
ह्यपरोऽपिदृष्टः।। - श्वेताश्वतरोपनिषद् 5.8

अनन्त सामर्थ्य वाला है।[14] **जीवात्मा न स्त्रीलिङ्ग है, न पुंल्लिङ्गी और न ही नपुंसकलिङ्गी। ये लिङ्ग शरीर के हैं जिस जिस शरीर को यह धारण करता है उस उस शरीर के लिङ्ग के साथ जीवात्मा संयुक्त हो जाता है।**[15] जैसे वनस्पतियों की वृद्धि वृष्टि के जल से होती है। उसी प्रकार आत्मा का प्रपञ्च सङ्कल्पन-मोह, स्पर्शन-मोह तथा दृष्टि-मोह रूपी जल से वृद्धि को प्राप्त करता है। यह जीवात्मा (देही) कर्मों के अच्छे बुरे अनुक्रम से भिन्न भिन्न स्थानों में, भिन्न भिन्न रूपों को प्राप्त होता है।

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म।

कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभि सम्प्रपद्यते।।[16]

सङ्कल्पन-मोह, स्पर्शन-मोह एवं दृष्टि-मोह का क्रम मनोवैज्ञानिक है। कर्म में तत्पर मानव पहले सङ्कल्प करता है। जब वह सङ्कल्प बार बार आता है तब सङ्कल्प मोह की अवस्था मनुष्य पर छा जाती है। तदनन्तर मनुष्य सङ्कल्प पूर्ति हेतु कर्म में प्रवृत्त होता है। तदनन्तर वह स्पर्शन-मोह की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यहां स्पर्श का अर्थ समीपता को प्राप्त करने से है। दृष्टि-मोह की अवस्था तब आती है जब मानव कर्म करने के लिए उद्यत होता है और क्रियमाण कर्म ही उसका एकमात्र ध्येय बन जाता है। इन तीनों अवस्थाओं का परिणाम जीवात्मा के भिन्न भिन्न कर्म हैं। प्रकारान्तर से यह भी अभिप्राय है कि सङ्कल्प, स्पर्श एवं दृष्ट और इन तीनों के मोह से ही मनुष्य कर्म में प्रवृत्त रहता है।

शरीरधारी जीवात्मा अपने शुभ-अशुभ गुणों से स्थूल एवं सूक्ष्म अनेक रूपों का चयन करता रहता है। **"स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि च रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति"** ये गुण दो प्रकार से जीवात्मा के साथ आते हैं। एक प्रकार तो वह है जो कर्म जीवात्मा द्वारा इस जन्म में किये होते हैं। दूसरा प्रकार वह है जो कर्म जीवात्मा ने गत जन्म में किये थे। वे संस्कार रूप में आत्मा के आत्मगुण बन गये हैं। इन वर्तमान कर्मों एवं भूतकाल के कर्मों का फल परमात्मा की व्यवस्था से जीवात्मा को मिलता है। ये ही कर्म जीवात्मा का शरीर

---

14 बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्ताय कल्पते।। - श्वेताश्वतरोपनिषद् 5.9

15 नैवस्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यतैः।।
- श्वेताश्वतरोपनिषद् 5.10

16 श्वेताश्वतरोपनिषद् 5.11

के साथ संयोग का कारण बन जाते हैं। **अभिप्राय यह है कि जीवात्मा के किये गये कर्मों का फल ही उसको विभिन्न प्रकार के शरीरों की प्राप्ति का कारण है।**[17]

जीवात्मा और ईश्वर का सम्बन्ध

जीवात्मा और ईश्वर का सम्बन्ध व्याप्य व्यापक है। अर्थात् जीवात्मा के अन्दर ईश्वर व्यापक है। इस प्रकार जीवात्मा व्याप्य और ईश्वर व्यापक है। जीवात्मा का स्वरूप अल्पज्ञ, एकदेशी और सूक्ष्म है। ईश्वर सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, निराकार, सर्वाधार, सर्वव्यापक आदि स्वरूप वाला है। जैसे लोहा स्थूल होता है, विद्युत् एवं अग्नि लोहे से सूक्ष्म होता है। इस कारण लोहे में विद्युत् एवं अग्नि व्यापक होकर एक ही आकाश में दोनों रहते हैं। वैसे ही जीवात्मा ईश्वर से स्थूल है तथा ईश्वर जीवात्मा से सूक्ष्म। अतः ईश्वर जीवात्मा में व्यापक रहता है। जीवात्मा और ईश्वर में व्याप्य-व्यापक, आधार-आधेय, स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा, पिता-पुत्र आदि सम्बन्ध भी हैं।[18]

जीवात्मा में व्यापक रहता हुआ ईश्वर जीवात्मा के पाप-पुण्य रूप कर्मों को न तो करता है और न ही उन कर्मों के दुःख और सुख रूप फलों को भोगता है। जैसे अग्नि की भट्ठी में रहता हुआ भी आकाश जलता नहीं है, क्योंकि आकाश में जलने की योग्यता नहीं है। उसी प्रकार ईश्वर आत्मा में व्यापक रहता हुआ भी उसके कर्मों का कर्ता और भोक्ता नहीं है, क्योंकि ईश्वर में उसकी योग्यता नहीं है। जीवात्मा को भोग की योग्यता धर्म-अधर्म रूप कर्मानुष्ठान से प्राप्त होती है। यह ईश्वर में सम्भव नहीं है।

जीवात्मा अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार भोगता है और आगे कर्म करने में लगा रहता है। ईश्वर अपनी नियत व्यवस्था के अनुसार विश्व के उत्पादन, धारण एवं संहार आदि में संलग्न रहता है। जीवात्मा का

---

17 स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि च रूपाणि
देही स्वगुणैर्वृणोति
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः।। -
श्वेताश्वतरोपनिषद् 5.12

18 महर्षि दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश, सप्तम समुल्लास।

कर्मक्षेत्र देह मात्र है, जबकि ईश्वर का कार्यक्षेत्र समस्त ब्रह्माण्ड है।

इस प्रकार धर्म-अधर्म रूप कर्मों के परिणाम स्वरूप जीवात्मा सुख-दुःख रूप फलों को प्राप्त करता है। कठोपनिषद् में उल्लेख है कि – **"आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः"**[19] अर्थात् जीवात्मा ही इन्द्रिय और मन से युक्त होकर भोग करता है। जबकि ईश्वर भोगों में न फंसकर साक्षी रूप से द्रष्टा मात्र है।[20] भारतीय दार्शनिक परम्परा में कतिपय चिन्तक ईश्वर और जीवात्मा को एक मानते हैं। इनके मत का तर्क और प्रमाण के आधार पर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने निराकरण किया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में महर्षि दयानन्द सरस्वती का मत अविकल रूपेण प्रस्तुत है-

"**प्रश्न-** ब्रह्म और जीव जुदे हैं वा एक? **उत्तर-** अलग-अलग हैं। **प्रश्न-** जो पृथक् पृथक् हैं तो: - **प्रज्ञानं ब्रह्म**[21], **अहं ब्रह्मास्मि**[22], **तत्त्वमसि**[23], **अयमात्मा ब्रह्म**[24], वेदों के इन महावाक्यों का अर्थ क्या है?"

(उत्तर) ये वेदवाक्य ही नहीं हैं किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के वचन हैं और इन का नाम महावाक्य कहीं सत्य शास्त्रों में नहीं लिखा अर्थात् ब्रह्म प्रकृष्ट ज्ञान-स्वरूप है। (**अहम्**) मैं (**ब्रह्म**) अर्थात् ब्रह्मस्थ (**अस्मि**) हूँ। यहाँ **तात्स्थ्योपाधि** है; जैसे **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** मचान पुकारते हैं। मचान जड़ हैं, उनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं, इसलिये मञ्चस्थ मनुष्य पुकारते हैं। इसी प्रकार यहां भी जानना।

कोई कहे कि ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं; पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेष है? इसका उत्तर यह है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ हैं, परन्तु जैसा साधर्म्ययुक्त निकटस्थ जीव है वैसा अन्य नहीं। और जीव को ब्रह्म का ज्ञान और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात्सम्बन्ध में रहता है। इसलिये जीव को ब्रह्म के साथ तात्स्थ्य वा

---

19 कठोपनिषद्, 3.4

20 एको देवः सर्व भूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च।। श्वेताश्वतरोपनिषद् 6.1; ऋग्वेद 1.164.20 में भी ईश्वर के साक्षी भाव को इस प्रकार प्रकट किया गया है- "अनश्नन्योऽभिचाकशीति।" अर्थात् ईश्वर फल का उपभोग न करता हुआ मात्र देखता रहता है।

21 ऐतरेयोपनिषद् 3.3

22 बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.10

23 छान्दोग्योपनिषद् 6.8.7

24 माण्डूक्योपनिषद् 2

तत्सहचरितोपाधि अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीव है। इस से जीव और ब्रह्म एक नहीं।

जैसे कोई किसी से कहे कि मैं और यह एक हैं अर्थात् अविरोधी हैं।

वैसे जो जीव समाधिस्थ परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी एक अवकाशस्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म, स्वभाव करता है वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है।

(**प्रश्न**) अच्छा तो इस का अर्थ कैसा करोगे? (**तत्**) ब्रह्म (**त्वं**) तू जीव (**असि**) है। हे जीव! (**त्वम्**) तू (तत्) वह ब्रह्म (**असि**) है।

(**उत्तर**) तुम 'तत्' शब्द से क्या लेते हो?

'ब्रह्म'।

ब्रह्मपद की अनुवृत्ति कहां से लाये?

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।' इस पूर्व वाक्य से।

तुम ने इस छान्दोग्य उपनिषत् का दर्शन भी नहीं किया। जो वह देखी होता तो वहाँ ब्रह्म शब्द का पाठ ही नहीं है। ऐसा झूठ क्यों कहते? किन्तु छान्दोग्य में तो-

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'[25]

ऐसा पाठ है। वहां ब्रह्म शब्द नहीं।

(**प्रश्न**) तो आप तच्छब्द से क्या लेते हैं?

(**उत्तर**) **स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्व तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति॥**[26]

वह परमात्मा जानने योग्य है जो यह अत्यन्त सूक्ष्म इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो प्रियपुत्र! **तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि।**

25 छान्दोग्योपनिषद् 6.2.1

26 छान्दोग्योपनिषद् 6.8.7

उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है। यही अर्थ उपनिषदों से अविरुद्ध है। क्योंकि-

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।

आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः। - यह बृहदारण्यक का वचन है।

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि हे मैत्रेयि! जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है; जिस को मूढ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है। जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप पुण्यों का साक्षी होकर उन के फल जीवों को देकर नियम में रखता है वही अविनाशीस्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है; उस को तू जान। क्या कोई इत्यादि वचनों का - अन्यथा अर्थ कर सकता है?

'अयमात्मा बह्म' अर्थात् **समाधिदशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है** तब वह कहता है कि यह जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है इसलिये जो आजकल के वेदान्ती जीव ब्रह्म की एकता करते हैं वे वेदान्तशास्त्र को नहीं जानते।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह तथ्य स्पष्ट रूपेण प्रतिपादित होता है कि जीवात्मा एवं परमात्मा की पृथक् पृथम सत्ता है। जीवात्मा कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। एकदेशी है। अल्पज्ञ है।

--इति-*-*

सन्दर्भग्रन्थसूची:-

1. अमरकोश, लेखक-अमरसिंह, समादन- श्री पं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी
2. ईशोपनिषद्, सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, व्याख्या विद्यामार्तण्ड डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, प्रकाशक- विजयकृष्ण लखनपाल, W-77ए ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली-48, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् 1990.
3. ऐतरेयोपनिषद्, सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, व्याख्या विद्यामार्तण्ड डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, प्रकाशक- विजयकृष्ण लखनपाल, W-77ए ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली-48, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् 1995.
4. कठोपनिषद् सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, व्याख्या विद्यामार्तण्ड डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, प्रकाशक- विजयकृष्ण लखनपाल, W-77ए ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली-48, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् 1995.
5. छान्दोग्योपनिषद् सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, व्याख्या विद्यामार्तण्ड डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, प्रकाशक- विजयकृष्ण लखनपाल, W-77ए ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली-48, गीताप्रेस गोरखपुर, सम्वत् 1995.
6. न्यायदर्शनम्, विद्योदयभाष्यम्, व्याख्याकार - आचार्य उदयवीर शास्त्री, प्रकाशक : विजयकुमार गोविन्द राम, हासानन्द 2010.
7. बृहदारण्यकोपनिषद्, व्याख्या विद्यामार्तण्ड डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, प्रकाशक- विजयकृष्ण लखनपाल, W-77ए ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली-48.
8. माण्डूक्यापनिषद, व्याख्या विद्यामार्तण्ड डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, प्रकाशक- विजयकृष्ण लखनपाल, W-77ए ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली-48.
9. मुण्डकोपनिषद्, व्याख्या विद्यामार्तण्ड डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, प्रकाशक- विजयकृष्ण लखनपाल, W-77ए ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली-48.
10. यजुर्वेद, प्रकाशक: परोपकारिणी सभा, अजमेर, राजस्थान
11. श्वेताश्वेतरोपनिषद्, व्याख्या विद्यामार्तण्ड डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, प्रकाशक- विजयकृष्ण लखनपाल, W-77ए ग्रेटर कैलाश-1, नई दिल्ली-48.
12. वैशेषिकदर्शनम्, विद्योदयभाष्यम्, व्याख्याकार - आचार्य उदयवीर शास्त्री, प्रकाशक- विजयकुमार गोविन्द राम, हासानन्द 2010.
13. सत्यार्थ प्रकाश, लेखक- महर्षि दयानन्द सरस्वती, प्रकाशक- परोपकारिणी सभा, अजमेर, राजस्थान
14. स्वगन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, प्रकाशक- परोपकारिणी सभा, अजमेर, राजस्थान